लोक मंच

राम भरोसे हरदम

महाकुंभ के अवसर पर इलाहाबाद रेलवे स्टेशन पर मची भगदड़ में करीब तीन दर्जन लोग उसी समय मारे गए और पचासों घायल हुए। इन अकाल मौतों ने कुंभ के आयोजन की सफलता पर धब्बा लगा दिया। स्टेशन पर हुई यह दुर्घटना अधिक त्रासद है, क्योंकि यहाँ रेलवे व उ.प्र. शासन दोनों की देख-रेख थी। कुंभ स्थल पर छिट-पुट घटनाओं को छोड़कर बड़ी दुर्घटना का न होना संतोषप्रद है। स्टेशन पर हुई मौतों को टालना उस व्यापक मेले के आयोजन की अपेक्षा अधिक आसान था। अस्पताल में बदइंतजामी और कफन के लिए 1000-1000 रुपये लेने की खबर ने तो जले पर नमक छिड़कने का काम किया। इतने बड़े आयोजन में यात्रियों के आवागमन को देखकर अलग-अलग दूरी पर अस्थायी स्टेशन बनाने चाहिए थे, ताकि ऐसी दुर्घटना की दूर-दूर तक कोई संभावना न हो।

अनेक स्तरों पर कुव्यवस्था तथा सुदृढ़ प्रबंधन के अभाव में भी दुर्घटना तो नहीं होती, पर कशमकश, घुटन, हैरानी-परेशानी ऐसी रहती है, मानो अनहोनी कभी भी हो जाए। ऐसी जगह दुर्घटना का न होना महज एक संयोग या राम कृपा होती है, क्योंकि उसका पूरा आधार वहाँ मौजूद रहता है। चूँकि कुछ बुरा नहीं होता, इसलिए किसी का ध्यान नहीं जाता। जिसका ध्यान जाता है, उसकी बात अनकही-अनसुनी रह जाती है।

दुर्घटना देखकर ही आगे से सावधानी रखने की आदत भी एक समस्या है। हर स्थिति, परिस्थिति में प्रबंध-तंत्र का सतत निरीक्षण-मूल्यांकन करने वाला सुदृढ़ प्रशासकीय ढाँचा खड़ा कर, ऐसी दुर्घटनाओं से बचा जा सकता है।

सारस कुमार, जौनपुर, उ.प्र.

बंद करके खोलना यौन अपराधों की जड़

यौन अपराधों की जड़ में आज की खुली संस्कृति है, जो अपने मूल में यौनिकता व सेक्सुअलिटी से जुड़ी है। इससे बच्चे जल्दी सेक्स के प्रति सयाने हो रहे हैं। जो सयाने हैं, वे लोक-लाज के पर्दे से बाहर आ रहे हैं। अश्लीलता की हद तक के विज्ञापन, फिल्में, गाने, ब्लू फिल्म, पोर्न साइट आदि उत्तेजक सिद्ध हो रहे हैं। शरीर का खुलापन कोई नई चीज नहीं है और न ही यौन अपराध कोई नई बात है। आदिम युग में देह और उसके खुलापन के सिवा कुछ था ही नहीं। समस्या तब पैदा हुई जब इसे पहले बंद करके फिर खोला गया। ऐसा भी नहीं कि देह-सुख की कामना कोई बुरी बात है। हमारे जितने कार्य-कलाप हैं, सब इसी सुख के लिए संपन्न होते हैं। चौबीसों घंटे हम देह-सुख प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं या फिर दीर्घकालिक देह-सुख प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं। जो शारीरिक कष्ट झेलते हैं, उनमें भी भविष्य में भौतिक सुख भोगने की अभीप्सा रहती है।

देह का खुलापन सिर्फ सेक्स पर केन्द्रित हो, तब समस्या उत्पन्न होती है। यह स्त्री को देह-व्यवसाय के लिए उकसाता है, वहीं पुरुषों में कामोत्तेजना जगाकर कोई भी अपराध करने के लिए बाध्य करता है। देह व्यापार को आवश्यक बुराई कहना इस समस्या की आदिम जटिलता को ही दर्शाना है। यानी यह है तो बुराई, पर इसका रहना जरूरी है। शास्त्रों में देह-व्यापार करने वाली को स्वतंत्र नारी कहना विडंबना है। क्या नारी वेश्या होकर ही 'स्वतंत्र' हो सकती है और स्वतंत्र होने के लिए वेश्या होना जरूरी है? नारीवादी आंदोलनों से लेकर महिला चिंतन के बड़े सरोकारों से जुड़े एक वर्ग ने देह-व्यापार या कम-से-कम यौन स्वछंदता को स्त्री-स्वतंत्रता के रूप में देखा है और पुरुष लाभार्थियों ने भी इसे इसी रूप में अपनाया है। यद्यपि यह स्वतंत्रता सिर्फ किसी से किसी के काम-संबंधों तक संकुचित होने के कारण कितना संकीर्ण है - यह कहना गैर-जरूरी है। नैतिकता से जोड़कर इस स्वतंत्रता को कितना ही सीमित या 'न्यून' क्यों न कर दिया जाए, इस न्यूनतम से भी समाज में अनेक लोग वंचित हैं तो दूसरी ओर कुछ लोग इस स्वछंदता की सीमा का हमेशा अतिक्रमण करते रहते हैं।

विनीत सिंह, नजफगढ़ (दिल्ली)

दोष विज्ञान का नहीं, उपयोगकर्ता है

कन्या-भ्रूण हत्या आधुनिक सफेदपोश समाज की समस्या है। यह विशुद्ध वैज्ञानिक अनुसंधान की देन है। विज्ञान का इस्तेमाल मनुष्य के अपने विवेक पर निर्भर है कि वह इसका उपयोग किस प्रकार करना चाहता है। वह चाहे तो इसका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। विज्ञान की तकनीक ने अविष्कार तो किया यह जानने के लिए कि भ्रूण की स्थिति क्या है; परंतु स्थिति को जानकर उसी पर अत्याचार भी किया जाता है। भ्रूण की स्थिति यदि समझ में नहीं आती तो अनेक चिकित्सकीय समस्या आधुनिक समाज में जटिल रूप धारण कर चुकी होती। अनेक बीमारियों का इलाज संभव नहीं होता। भ्रूण में कन्या होने का पता चलने पर उसे खत्म करने का तरीका भी लोगों ने निकाला। यदि निकल सकता है तो निकलना चाहिए, इसमें मनचाही संतान की अपेक्षा होती है। इसके लिए सिर्फ परम्परागत सोच ही जिम्मेदार नहीं है, अपितु आधुनिक समाज का ताना-बाना भी उसी प्रकार जिम्मेदार है जहाँ अब भी बेटी को दोयम दर्जे का माना जाता है।

सुरभि सिन्हा, बेगुसराय, बिहार

प्रेम के नाम पर घृणित अपराधों को क्या कहें

प्रेम में सुख ही सुख है, शांति ही शांति है। वहाँ डर-भय, आशंका-संदेह, धमकी लेश मात्र भी नहीं है। प्रेम का नाम लेकर काम ठीक चालबाजी, ढोंग, कपट, राड़ और द्वेष का किया जाता है, इसलिए यह कहना उचित है कि आजकल का प्यार प्यार नहीं है। हालाँकि सब जगह यह बात लागू नहीं होती। जालसाजी, झूठ-प्रपंच, छल-छद्म का बाजार ही चारों ओर बन चुका है। जहाँ मौका मिलते ही 'स्वार्थ हेतु' 'प्रेमी' की बलि चढ़ाने में देर नहीं लगती। यह कैसा प्रेम है? यदि 10 प्रतिशत भी असली प्रेम समाज में पल्लवित-पुष्पित हो तो बहुत सारी समस्याएँ स्वतः खत्म हो जाएँगी, इसलिए आजकल जितनी तरह के और जितनी संख्या में अपराध दुश्मनी निभाने के लिए किए जाते हैं, उससे अधिक तथाकथित प्रेम के नाम पर होते हैं। यही विचित्रता है इस समाज की, जिससे निजात पाना चुनौती है।

सुजाता शर्मा, उज्जैन (म.प्र.)

धर्म का धंधा चलेगा, पर धर्म गायब होगा

अधिकांश धार्मिक संत-महात्मा हाइटेक हो रहे हैं। उन्हें भी विज्ञापन, प्रचार, धन, जमीन के साथ बाकी सुख-सुविधाएँ अच्छी लगती हैं। दुनिया को माया-आसक्ति, काम-क्रोध, लोभ से मुक्त कराने का उपदेश देने वाले खुद ऐसे न जाने कितने प्रपंचों में फँसे हुए हैं। दिखावापूर्ण ग्लैमर से ही उनकी पहचान बन रही है। आपस में होड़ इतनी कि जमीन-जायदाद और पैसे के लिए साजिश, सुपारी द्वारा कोई भी अपराध करते-कराते हैं। ये अपने हित के लिए राजनीति भी करते हैं, टैक्स चुराते हैं, व्यवसाय करते हैं। अपना सारा कार्यक्रम धन के हवाले कर देते हैं। वक्तव्य रूप में अच्छी-अच्छी कथाएँ कहने मात्र से धर्म-अध्यात्म का माहौल कैसे बनेगा? जो अग्रणी हैं, जिन्होंने ऐसा करने का बीड़ा उठाया है, वे ही धर्म के वास्तविक सरकारों से विलग दिखावे के विश्वासी होंगे तो धर्म की सत्ता निर्मित करना कठिन होगा। इसीलिए धार्मिक प्रचार-प्रसार का व्यवसाय बढ़ने के बावजूद धर्म का लगातार क्षरण हो रहा है। धर्म का धंधा चमक रहा है, भीड़ बढ़ रही है पर धर्म धीरे-धीरे फीका पड़ता जा रहा है। धर्माचारियों को इस पर ध्यान देना चाहिए अन्यथा धर्म-धंधा चलेगा, पर धर्म न होगा।

केशर बाली, यमुना विहार, दिल्ली

ब्रह्मचर्य की दिशा-सीमा निर्धारण कठिन है

आचार्य श्रीराम शर्मा का लेख 'ब्रह्मचर्य एक अमोघ शक्ति' पढ़कर अच्छा लगा। ब्रह्मचर्य का गुणगान हमारे सभी ग्रंथों में है। इसकी महत्ता से भी हम भली-भाँति परिचित हैं। इसके बावजूद, समाज में यौन-व्यभिचार घृणित सीमा तक जा रहा है। व्यवहार में ब्रह्मचर्य का कठोर रूप ग्रहण न करके मात्र इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना पर्याप्त है। इसके लिए मर्यादा अनिवार्य है। चंचल लिप्सा के कारण सामान्य लोगों के लिए मन को पूर्ण नियंत्रण में रखना कठिन है। इसे एक दिशा तक संयम से सीमित किया जा सकता है। इससे न केवल शारीरिक-मानसिक सबलता आती है, बल्कि सामाजिक व्यवहार भी अत्युत्तम रहता है। वर्तमान में ब्रह्मचर्य की एक दिशा-सीमा निर्धारित करना ठीक है। कामेन्द्रियों पर पूर्ण प्रतिबंध न जरूरी है और न संभव है।

रमेश शुक्ल, छपरा, बिहार

धर्मस्थलों की भव्यता बढ़ी, दिव्यता गायब

'युगसेतु' के जनवरी-फरवरी अंक में यात्रा के विविध पहलुओं की सुन्दर विवेचना प्रस्तुत हुई है। अज्ञेय का 'मौत की घाटी में' और रघुनंदन तिवारी का 'मनाली की बदलती बयार' जहाँ यात्रा अनुभवों का सृजनात्मक कथावृत्त है, वहीं भारतीय तीर्थ और महाकुंभ की महिमा को प्रतिष्ठित करते लेखों में धर्म-यात्रा पर फोकस है। 'यात्रा : अंदाज अपना-अपना' में जीवन से यात्रा की अविभाज्यता दर्शायी गई है। जिंदगी यात्रा के बिना संभव नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से यात्रा जुड़ी है। जीवन के पार भी यात्रा होती है। यह ज्ञान और अनुभव का आधार है, परंतु यात्रा कौन कर पाता है? जरूरत के लिए सब चलते हैं। बिना जरूरत के सिर्फ यात्रा के लिए यात्रा संपन्न लोग ही कर पाते हैं। चूँकि पर्यटन से इतर तीर्थ यात्रा - धर्म यात्रा से विश्व के सभी क्षेत्रों व धर्मों के लोग जुड़े हैं, अतः अधिकांश जन अन्य आवश्यकताओं में कटौती करके भी धर्म-यात्रा करते हैं। इससे उनकी आस्था जुड़ी होती है। इसलिए इन धार्मिक स्थलों का समुचित प्रबंध होना चाहिए। साफ-सफाई से लेकर सुरक्षा व्यवस्था तक सब चाक-चौबंद होनी चाहिए। दर्शनीय स्थलों को शुद्ध, स्वास्थ्यप्रद, सद्ग्रंथ और सदाचरण-संपन्न व्यक्तियों से युक्त होना चाहिए। कीर्तन, प्रवचन आदि पावनता बढ़ाते हैं, लोगों को यहाँ आकर सुकून मिलता है, आत्मिक-पारमार्थिक शांति मिलती है। लेकिन वर्तमान में धर्मस्थल भी धनलोलुप व्यक्तियों, मुनाफाखोरों, भीड़, छोटे-बड़े अपराधियों की उपस्थिति के कारण अपनी दिव्यता खोते जा रहे हैं, लेकिन पैसे की आवक के कारण भव्यता प्राप्त कर रहे हैं, फलतः आस्थावान लोग धर्मस्थलों की आंतरिक दिव्यता से रिक्त बाहरी भव्यता का प्रासाद देखकर और प्रसाद पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं।

संजय मिश्र, जमशेदपुर, झारखंड

शिक्षण प्रणाली दोषयुक्त

'कैसे-कैसे होते हैं टॉपर' खबर में वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की कलई खुलती है। ऊँची-ऊँची डिग्री प्राप्त करने वालों को भी न तो विषय की समझ होती है और न उसकी अवधारणा स्पष्ट होती है। इसका कारण है कि कुछएक अनुमानित प्रश्नों को रटकर परीक्षा में लिख-बोल दिया जाता है। विद्यार्थी के सामने नई संभावनाओं को तलाशने वाले प्रश्न नहीं होते, जिनका उत्तर पहले से तैयार पाठ की बजाय अपनी समझ-शक्ति से दिया जाए। इसलिए जिन विषयों को तैयार किया गया होता है, उनसे थोड़ा-सा भी अलग हटकर उत्तर देने में किंकर्तव्य विमूढ़ता झलकती है। परंतु इसमें परीक्षा प्रणाली और परिणाम ही का दोष नहीं है। पूरी अध्ययन-अध्यापन पद्धति ही बिगड़ चुकी है। अतः डिग्रियों पर प्रश्न-चिन्ह लगाने से पहले पढ़ाई की पद्धति ठीक करनी होगी।

राहुल कुमार, पटना, बिहार

सत्यांश

मानव कितना मानव है? मानवीय आकृति में हजारों सालों से कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है, तो फिर यह प्रश्न क्यों उत्पन्न हुआ? स्पष्ट है कि मानवता, मनुष्यता, इंसानियत-आदमीयत का लगातार ह्रास हुआ है, जबकि मनुष्यता ही आदमी होने की वास्तविक पहचान, गुण व विशेषता है। इसके अभाव में मनुष्य कैसा? लेकिन नहीं, वह इसके अभाव में भी मनुष्य ही कहलाता है, क्योंकि उसका आकार अभी आदमियों वाला ही है। प्रथम पहचान तो आकृति ही है न। इसीलिए इंसान चाहे कुछ भी करे, रहेगा तो इंसान ही। इसी प्रकार पशु कितने ही कुछ कर लें, रहेंगे तो जानवर ही। पौराणिक कथाओं में अनेक मनुष्येतर प्राणियों जैसे गरुड़, कौआ, गिद्ध, साँप, वानर, राक्षस आदि को श्रेष्ठतम कार्यों में तल्लीन दिखाया गया है, फिर भी वे हैं अपनी योनि के जीव-जंतु ही। ऐसे ही मनुष्य नीच से नीच कार्य कर ले, पर रहेगा मनुष्य ही? दुनिया में आजकल हो रहे दुराचारों-अपराधों के घिनौनेपन-ओछेपन को देखकर उन्हें विरलतम में भी विरल कहना पड़ता है। निरंतर ऐसे विरलतम अपराधों की उपस्थिति विस्तृत होती जा रही है, फिर भी मनुष्य की अपनी सत्ता पर कोई खतरा नहीं है। क्यों?

मनुष्य ही वह प्राणी है जिसमें जन्म लेना देवों के लिए भी दुर्लभ बताया गया है। तत्वदर्शियों ने इसे 'अमृत पुत्र' कहा है। महर्षि वेदव्यास ने इसे श्रेष्ठतम कृति बताया है- 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' तुलसीदास के राम स्वयं त्रिलोकस्वामी विष्णु के अवतार होकर भी मनुष्य योनि में जन्म को परम सौभाग्य मानते हैं - 'बड़े भाग मानुस तन पावा, सुर दुर्लभ सद्ग्रंथन गावा।' इसके बावजूद मनुष्य ही ऐसा अनूठा प्राणी है जो अकेले देवी-देवता और ईश्वर ही नहीं, बल्कि राक्षसों-जानवरों का गुण भी धारण करता है। इतनी सारी संभावनाओं को एक साथ धारण करने वाला आदमी अनुपम कृति तो है ही। प्राचीन युगों में ईश्वरत्व व देवत्व की विशेषताओं के दर्शन कुछ मनीषियों में हुए हैं। अनेक बार उनके सुकृत्यों से ब्रह्मा, विष्णु और महेश सहित देवगण अभिभूत हुए हैं। अब ऐसे दिव्य मानव संभवतः नहीं हैं; परंतु मनुष्य के जीवित रहने के साथ ऐसी संभावनाएँ बनी रहेंगी। इस प्रकार जहाँ देवत्व की प्राप्ति की संभावनाएँ खत्म नहीं हुई हैं, वहीं इंसानों के गैर-इंसानी कार्य राक्षसों-जानवरों को भी मात दे रहे हैं, यानी आदमी में एक ओर अत्यल्प ही सही, देवत्व वाला अतीत एवं भविष्य की आशाएँ-संभावनाएँ हैं, तो दूसरी ओर पशुता की पराकाष्ठा का यर्थाथ रूप-कार्य दर्शन। पाशविकता के निदर्शन का कोई खास उदाहरण देने की जरूरत नहीं, क्योंकि आस-पड़ोस, घर-परिवार से लेकर देश-दुनिया में भिन्न-भिन्न तरह के इतने अपराध हो रहे हैं, जिनकी वीभत्सता, क्रूरता और नीचता के प्रकारों का बखान नहीं किया जा सकता। जिसकी कल्पना भी दुष्कर थी, वह सब आस-पास हो रहा है। यह सब आदमी आदमी होकर ही कर रहा है। ऐसे में लगता है कि उसकी करतूतों को पशुता-दानवीयता कहना एक तरह से पशुओं-दानवों को ही गाली है।

सारी हैवानियत व दरिंदगी के बावजूद इंसान होने की सत्ता इंसानी-देह के कारण है। चूँकि मानवीय चेतना न होने के कारण भी 'मानव-सत्ता' पर कोई फर्क नहीं पड़ता, अतः मानना पड़ेगा कि यह शारीरिक बनावट के एकमात्र अवलंब पर टिका है, जबकि वास्तविकता यह है कि 'आकृति का नाम मनुष्य नहीं, प्रत्युत मनुष्यता वाली विवेक-शक्ति का नाम मनुष्य है।' इसलिए मनुष्यता के अभाव में वह और कुछ भी हो, पर मनुष्य नहीं हो सकता। शायद इसीलिए कहा गया है -

'हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेरया सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय।।

इस संसार में भगवान सब जगह हैं; परंतु भगवान का भक्त यानी मानवीय चेतना से चलने वाला व्यक्ति बहुत ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। जो मिलता है, वह 'स्त्री', 'पुरुष', 'ब्राह्मण', 'शूद्र', 'गृहस्थ', 'संन्यासी', 'बाप', 'बेटा', 'भाई', 'पति', 'पत्नी', 'नेता', 'अधिकारी', 'कर्मचारी', 'चिकित्सक', 'शिक्षक', 'वैज्ञानिक' आदि-आदि है। वह यह सब भी कितना और कैसा है- आज की स्थिति में छुपा नहीं है, क्योंकि वह 'स्त्री' होकर भी अजीब स्त्री, पुरुष होकर भी विचित्र पुरुष है। यही बाकी सारी चीजों की स्तरीयता का हाल है। इन 'योग्यताओं' से वंचित होने के कारण इनका सांसारिक दायित्व-व्यवहार भी कुशलता पूर्वक नहीं निभा पा रहा है। इन सबमें विद्यमान एक 'सत्ता' की अनुभूति अवश्य वर्तमान है, जिसके अंदर से इन सत्ताओं की मर्यादा भी तार-तार होती जा रही है। इन्हीं सत्ताओं में से एक सत्ता राजा-प्रजा की राजतंत्र में और शासक-नेता-जनता की लोकतंत्र में होती है। श्रीकृष्ण ने अपने को 'मनुष्यों में राजा' कहा है - 'नराणां च नराधिपम्।' यह तब की बात है जब विशुद्ध राजतंत्र में राजा होते थे। श्रीकृष्ण आज के 'लोकतांत्रिक' समाज में होते तो 'मनुष्यों में राजा' यानी आदमियों में 'शासक-नेता' अपने को कहते? वे शासक-नेताओं में मनमोहन सिंह, एल.के.

आडवाणी, जयललिता, मायावती, मुलायम सिंह, नीतीश कुमार आदि-आदि कहते। फिर इन नेताओं में से एक नेता जो उन्हें पसंद आता, उसका नाम लेते। निश्चित रूप से परम तत्व होने के नाते इन राजाओं-नेताओं में वे होते ही, पर वे वाकी लोगों में भी उसी प्रकार विद्यमान हैं। यद्यपि वस्तु-समूहों में जो श्रेष्ठतम है, वही वे अपने को बताते हैं, फिर भी 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्' कहकर संपूर्ण भूतों का सनातन बीज भी स्वयं को कहते हैं। 'समोऽहं सर्वभूतेषु न द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' अर्थात् वे सब भूतों में समभाव से स्वयं को व्यापक बताते हैं, जिनका न कोई अप्रिय है और न प्रिय है। सब भूत उनके अंतर्गत संकल्प के आधार पर स्थित हैं, किंतु वास्तव में वे उनमें स्थित नहीं हैं- 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।' परंतु इतनी गहराई में गए बिना इतना कहना पर्याप्त है कि आज की राजनीतिक स्थिति में अपने को राजनीतिक नेता कहना थोड़ा अटपटा लगता, क्योंकि आजकल के नेता लोग सामान्य लोगों की तरह ही हैं। नेता-मेधा की जरूरत आज की राजनीति में कम है। अतः नेतृत्व के गुणों का अत्यधिक ह्रास हुआ है या यों कहें कि नेता बनने के लिए अलग ढंग के गुणों का विकास हुआ है। इसीलिए नेतृत्व गुणों और राजनीति से अपरिचित लोग भी राजनीतिज्ञ की पदवी से विभूषित हैं। जैसे बाकी लोग हैं, उसी प्रकार नेता भी हैं। वे भी भीड़ के हिस्से हैं, फर्क सिर्फ कुर्सी और पद का है। बाकी आचार-व्यवहार, भाषा और अन्य चीजों में कोई नेतृत्व का निरालापन नहीं है। हाँ, भ्रष्टाचार और अन्य मामलों में वे कुछ अनूठे अवश्य हैं।

किस व कैसे मनुष्य का जन्म दुर्लभ है? एक तरफ दुष्टता, पतितता, नीचता से इंसानियत शर्मसार है, तो दूसरी तरफ दुनिया की एक बहुत बड़ी आबादी मनुष्य होकर भी सहज मानवीय जरूरतों से न केवल वंचित है, अपितु उसके ऊपर नस्लवाद, जाति-वर्णवाद, लिंगवाद, क्षेत्र-संप्रदायवाद, क्रूर सत्तावाद के कारण इतने प्रकार के जुल्म-सितम ढाए जाते रहे हैं जिनसे भूल जाता है कि वह इसी धरती का आदमी है। बिल्कुल बुनियादी सहज मानवीय अधिकारों के लिए तरसते, तड़पते-जूझते मर जाने वाले लोगों के लिए मनुष्य होने का मतलब क्या है। आकृति में कहीं कुछ रंगों के सिवा मनुष्य मनुष्य कोई पार्थक्य नहीं है, फिर भी एक आदमी है जो न जाने कितने लोगों के स्वाभाविक मानवीय अधिकारों को ही, बल्कि मानवीय अनिवार्यताओं तक को हड़पकर हजम कर जाता है और दूसरा आदमी है जो अपने तथा अपने परिवारजनों सहित सारी उम्र आधारभूत जरूरतों के लिए संघर्ष करता रहता है। इसमें सत्ता व्यवस्था का बड़ा दोष है जो किसी-न-किसी जुगत से मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता। एक तो मनुष्य बने रहना ही आसान नहीं, दूसरा जो किसी भी स्थिति में 'मनुष्य' बने रहना चाहता है, उसे तरह-तरह के हथकंडों से प्रहार कर अमानवीय आचरण के लिए बाध्य किया जाता है। समाज में जितने अपराध हो रहे हैं, उनमें सरकार, पूंजीपति, अधिकारी, व्यवसायी लोगों का सीधा व परोक्ष योग अधिक है। ये स्वयं द्वारा सभ्य तरीके से अमानुषिक कार्यों की मिसाल कायम करते हैं, तो दूसरी ओर बृहत्तर समाज के हितों को बड़ी चालाकी से अपने हितों में सम्मिलित करा लेते हैं। इसी की वजह से समाज में असंतोष है।

मानव को दानव या पशु किसने बनाया है, उन्हीं लोगों ने जो अंदर से बिल्कुल दानव हैं और बाहर से मानव, जिन्होंने दूसरे का हक अनेक तरीकों से हथिया लिया है। इसी प्रकार की जरूरत को दृष्टिगत रखते हुए 10 दिसंबर, 1948 को राष्ट्र-संघ द्वारा किसी तरह के अन्याय व वंचना से मुक्ति के लिए सार्वभौम घोषणा-पत्र स्वीकृत किया गया। मनुष्य जाति के अधिकारों को बढ़ावा देने की घोषणा हुई। परंतु मानवाधिकारों की बात से भी अधिक मानवीय अनिवार्यताओं की पूर्ति आवश्यक है, क्योंकि अधिकार होने पर इस्तेमाल की समझ व शक्ति होने पर ही उसका कुछ मतलब-मायने हैं। एक भूखे व्यक्ति के लिए मताधिकार से पहले रोटी की जरूरत होती है। दुख-दैन्य, अनाचार, पीड़ा, अंधविश्वास, शोषण, वैमनस्य, अज्ञान आदि का संपूर्ण उन्मूलन करके ही आगे मानवाधिकारों की लड़ाई लड़ी जा सकती है।

विश्व विज्ञान द्वारा उन्नति के चरम शिखरों पर चढ़ने के बाद भी एक बड़ा भाग मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित है और इस प्रकार मनुष्यता से दूर भी है। वहीं जो समर्थवान हैं, वे भी अपनी बेईमानी के कारण 'मनुष्य' होने से अधिक दूर हैं। दोनों ही मनुष्यता से विलग हैं, फिर भी मनुष्य तो हैं ही। उन्हें आत्म-उद्धार द्वारा मनुष्यता विकसित करने का मार्ग खुद ही तय करना होगा, क्योंकि वे चाहे जहाँ भी हों, पर अपने में महान् बनने की संभावना रखते हैं, बेशक वे इस संभावना से परिचित न हो। हिन्दी कवि मिलिन्द के शब्दों में,

जनसाधारण!
यह लघुता का अति विशाल विस्तार।

साधारण मनुष्य बहुत कुछ करने का माद्दा रखता है। वह केवल आकृतियों की संख्या यानी जनसंख्या का घटाव-बढ़ाव नहीं है, बल्कि बुद्धि-विवेक और श्रम-बल के अथाह सामर्थ्य से युक्त है। मनुष्यता की चेतना का चरम प्रकर्ष परमतत्व भी यही है, क्योंकि श्रीकृष्ण ने कहा है कि संपूर्ण भूत प्राणियों की चेतना या जीवनी-शक्ति मैं ही हूँ- 'भूतानामस्मि चेतना।' यही चेतना मनुष्यता है और मनुष्यता मानव होने का प्रमाण।*